डायस्पोरा के संदर्भ में प्रवासी हिन्दी फिल्मों का उदय

डा0 भावना,

अतिथि शिक्षक,
अंग्रेजी हिन्दी अनुवाद पाठ्यक्रम,
हिन्दी विभाग दिल्ली विवि

लोक शब्द 'डायस्पोरा'; हिन्दी में इसका रूपांतर विसर्जन किया गया है, जिसे कुछ दशकों पहले तक तक संसार में यत्र–तत्र बिखरे यहुदी लोगों की दुर्दशा को चिहिन्त करने में इस्तेमाल किया जाता रहा है, आजकल काफी प्रचलित हो चुका है। 1970 के बाद डायस्पोरा पद का इस्तेमाल लगातार उस समूह के लिए किया जाता रहा है जो अपने पूर्वजों या पूर्व जन्मभूमि से अलग जीवनयापन कर रहा है। जॉन आर्मस्ट्रांग जहाँ डायस्पोरा को किसी प्रदत्त समाज में एक भौगोलिक आधार से वंचित एक सामूहिक जातीय समूह के लिए करते हैं तो वहीं डायस्पोरा जर्नल के संपादक खाचिग तोलोयन कहते हैं कि डायस्पोरा शब्द जो एक समय में यहूदी, यूनानी या आर्मेनियाई विसर्जन के प्रयुक्त होता थाए आज वह हमारे उस विश्वास की ओर संकेत करता है जिससे एक व्यापक सिमेंटिक डोमेन के ध्वनित होते हुए अर्थ की सांझेदारी होती हे जिसमें कि अप्रवासी, अनिवासी, शरणार्थी, अतिथि कामगार, निष्कासित समुदाय, सागरपार समुदाय, जातीय समुदाय जैसे तमाम शब्द शामिल हैं।[1]

भारतीय डायस्पोरा ब्रितानी और चीनी डायस्पोरा के बाद विश्व में तीसरे सर्वाधिक जनसंख्या वाले डायस्पोरा में गिना जाता है। हालिया भारतीय प्रवासियों की आबादी 70 से अधिकतर देशों में 20 मिलियन के आंकड़े को पार कर चुकी है। भारतीय डायस्पोरा का चार धाराओं में विसर्जन हुआ। पहली धारा मारीशस, युगांडा, सिलोन, नाइजीरिया, गुयाना, त्रिनिनाद, टोबैगो, फिजी, बर्मा में अफ्रीकी मजदूरों की दासप्रथा से आजादी के बाद खाली जगह को भरने के लिए भारत से ले जाए गए बंधुआ मजदूरों के प्रवासन की थी। भारतीय डायस्पोरा की दूसरी धारा अमरीका, कनाडा, आस्टेलिया, न्यूजीलैंड जैसे विकसित देषों की ओर गतिमान रही। तीसरी धारा द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद की है, जब बड़े पैमाने पर भारतीयों ने पश्चिमी एशियाई देशों में रहना शुरू किया। 'मिनिस्ट्री ऑफ एक्सटर्नल अफेयर' की 2001 के रिपोर्ट के अनुसार सउदी अरब, बहरीन, कतर ओमान, कुवैत, संयुक्त अरब अमीरात को मिलाकर खाड़ी देशों में भारतीयों की जनसंख्या 32,82,600 थी। खाड़ी देशों में काम करने वाले अधिकतर भारतीय अप्रशिक्षित या अर्ध–प्रशिक्षित हैं। भारतीय डायस्पोरा की चौथी धारा पश्चिमी देशों खासतौर पर अमरीका में 1980 के बाद सॉफ्रटवेयर इंजीनियरों के प्रवासन के रूप में दृष्टिगत हुई। ये भारत के प्रमुख संस्थानों आईआईटी, आइआइएम और विश्वविद्यालयों के बौद्धिक संसाधन माने जाते हैं। किसी भी डायस्पोरा की सबसे बड़ी चिंता अपने मूल स्थान से जुड़ी सांस्कृतिक अस्मिता को बचाए रखना है। अधिकांश डायस्पोरा में यह विशेषता या तो तिरोहित हो चुकी है या प्रभावी मेजबान संस्कृति में मिश्रित हो चुकी है वहीं भारतीय डायस्पोरा अपने भौतिक विस्थापन के बाद से अपनी अस्मिताओं के निर्माण में सक्षम रहा है। वे न केवल अपनी पीढ़ियों को अपने प्रवासन का इतिहास बताते हैं वरन् भारतीय संस्कृति को

साधारण रूप में मिथकों, महागाथाओं और परंपराओं के माध्यम से सांझा करते हैं जो कि उनकी समकालीन अस्मिता के अभिन्न अंग का सृजन करता है।

1970 के दशक में भी प्रवासी भारतीयों पर फिल्में बनती थी पर उनमें भारतीयता के अभाव और पश्चिम को भ्रष्ट दिखाने का चलन हावी था। पष्चिमी व्यक्तित्व का मतलब सारते एबों से लबरेज़ आदमी होता था जिसके भारतीयकरण की जिम्मेदारी फिल्मों के नायक के कंधों पर होती थी।इस नजरिए पर गोविंद निहलानी कहते हैं *'' कैमरा शुरू होता था उन नए जूतों पर और उपर को उठते हुए... पैंट, चेहरे पर आते हुए... मुंह में सिगरेट होती थी। विदेश से लौटे हुओं के तौर–तरीके बदले हुए थे, लड़की के बॉबकट बाल थे, मिनी स्कर्ट के लिबास में होती थी। वे अपनी भारतीयता खो चुके थे और एलियन बन चुके थे।''*[2] इसके विपरीत 90 के दशक की बॉलीवुड फिल्मों में एनआरआई को शहरी मानसिकता वाला ब्रितानी या अमरीकी लहजे वाली अंग्रेजी बोलने के रूप में मगर फिर भी दिल है हिन्दुस्तानी वाले सभी भारतीयों का आदर करने वाले के तौर पर दिखाया गया। 90 के दशक में बनने वाली फिल्मों में विभिन्न महादीपों में बसे अलग–अलग शहरों में रहने वाले प्रवासियों के चरित्रा को केन्द्र में रखा गया। फिल्म के सेट शहरी केन्द्रों का दर्शन और अनुभव कराने लगने और खुलमखुल्ला तरीके से कोका–कोला, रॉल्फ लारेन और नाइकी जैसे ब्रांडों को दिखाने लगे। इन फिल्मों में चाहे मध्यवर्गीय भारत हो या पश्चिम का शहरी डायस्पोरा इन्होंने पूरे विश्व के दर्शकों को जोड़ना शुरू किया। डिजाइनर सिनेमा, भव्य सिनेमा और क्रॉसओवर सिनेमा के नाम से प्रवासी और विदेशी दर्शकों को लक्ष्य करके बनाया जाने वाला हिन्दी सिनेमा 90 की दशक के देसी बाजार के साथ विदेशी बाजार को भुनाने की कोशिश है। बकौल फरहान अख्तर **एक क्रॉसओवर फिल्म उसे कहा जा सकता है जो सबको एक समान पसंद आए या कहें कि एक बड़े तबके को पसंद आए–राष्ट्रीय और अंतराष्ट्रीय दोनों स्तरों पर। मेरा मानना यह है कि संसारभर के दर्शकों को एक साथ पसंद आए ऐसा काम करना भले ही कितना मुश्किल होता हो, अच्छी कलाशैली का सार्वभौमिक स्वर होता है।**[3]

वर्तमान में जब हम हिन्दी के बाज़ार की बात करते हैं तो हम वस्तुतः मीडिया और हिन्दी फिल्मों के बाजार को ही चिन्हित कर रहे होते हैं। प्राइसहाउस वाटर्सकूपर्स और फिक्की के 2008 के शोध के अनुसार भारतीय फिल्मोद्योग विश्व के सर्वाधिक गतिशील व्यवसायों में से एक है और 2011 में इसके 874 अरब के कारोबार के आसार है। प्रतिवर्ष 20 भाषाओं में तकरीबन 800–1000 फिल्में बनती हैं जिन्हें 13000 करोड़ दर्शक सालाना और 230 लाख दर्शक प्रतिदिन देख रहे होते हैं। हिन्दी फिल्मोद्योग सर्वाधिक फिल्मों का निर्माण करता है, उसके बाद क्रमशः तमिल और तेलुगु फिल्मों की बाजार में सबसे ज्यादा हिस्सेदारी है। 2020 तक हिन्दी फिल्मों का निर्यात मूल्य 11890 करोड़ पार करने की आशा है क्योंकि अब भारतीय निर्देशक न्यूजीलैंड, जापान, ऑस्ट्रेलिया, सिंगापुर, मारीशस, तंजानिया, केन्या, इंडोनेशिया और पश्चिमी यूरोप के साथ–साथ अमेरिकी और ब्रिटेन के परंपरागत व्यापार को भी विस्तार देने की सोच रहे हैं।

हिन्दी फिल्में पहले भी भारतीय उपमहाद्वीप, बर्मा, दक्षिण और दक्षिण–पूर्व एशिया, मलेशिया और श्रीलंका, पूर्वी अफीका में लोकप्रिय थीं। 1940 में यह रूस और मध्य–पूर्व के देशों में तक पहुँचीं। वर्तमान में ये बांग्लादेश, ईरान, इंडोनेशिया, सूडान, उज्बेकिस्तान, कंबोडिया, सीरिया, यमन, ब्रिटेन, पूर्वी यूरोप, अमेरिका तथा अन्य देशों को निर्यात की जाती हैं। क्या हम हिन्दी फिल्मों के इतने विशालकाय बाजार और मजबूत जनाधार की उपेक्षा कर सकते हैं? भारत

में मनोरंजन का निर्यात 2006 में 1998 के 40 मिलियन डॉलर से बढ़कर 200 मिलियन डॉलर तक की सीमा तक पहुंच चुका है।[4] 1 जनवरी 2007 की इकॉनॉमिक टाइम्स चेन्नई की एक रिपोर्ट के मुताबिक संपूर्ण भारतीय फिल्मोद्योग 7,900 करोड़ के नजदीक है और प्रतिवर्ष 20 प्रतिशत की दर से वृद्धि कर रहा है। और इसके साल 2010 में 15,300 करोड़ के आंकड़े तक पहुंचने के आसार है और इस बाजार का लगभग 10 प्रतिशत हिस्सा ओवरसीज बॉक्सऑफिस की कमाई से आने वाला है। फिल्मी बाजार की इस प्रवृति के समर्थन में सलाम नमस्ते, वीर–जारा , कल हो ना हो, देवदास, कभी खुशी कभी गम, फिल्मों का हवाला दिया गया। इन फिल्मों ने अमरीका में 15 से 30 लाख डॉलर का व्यवसाय किया। ब्रिटेन में इनका कारोबार 15लाख से 25 लाख पौंड के बीच में रहा।[5]

120 लाख की आबादी वाले मजबूत भारतीय डायस्पोरा के लिए बॉलीवुड विवाह, नाच, उत्सवों और ड्रेस कोड के मॉडलों की आपूर्ति करता है। बॉलीवुड के प्रसार का दबाव ही है कि 1999 में शुरू हुआ 24 घंटे का बीफोरयू ;बॉलीवुड फॉर यू मूवी चैनल अब आठ सैटेलाइट के जरिए 100 से अध्किर देशों में प्रसारित होता है। इसके अलावा फिल्मी पत्रिकाएँ सिने ब्लिट्ज, फिल्मपफेयर, मूवी और स्टारडस्ट पत्रिकाएं वैश्विक तौर पर ऑनलाइन और पत्रिकाकार में भी उपलब्ध है।[6] 90 के बाद उदारीकरण की प्रक्रिया और सूचना क्रांति ने हिन्दी फिल्मों को एक नया बाज़ार उपलब्ध कराया है। हिन्दी फिल्मों ने प्रवासी भारतीयों को लक्ष्य किया है। इस वर्ग में पसंद की जाने वाली फिल्में मारधाड़ वाली फिल्में न होकर पारिवारिक फिल्में है। फिल्में उनके लिए पीछे छूटे घर को देखने का साधन और उनकी अगली पीढ़ी के लिए भारत को जानने का एक जरिया है। क्या विसर्जन/ डायस्पोरा की सुगबुगाहट इसी दौर में ज्यादा तेज़ नहीं हुई है जिसमें की अमेरिकन बोर्न कंन्फयूज्ड देसी यानी एबीसीडी को हिन्दुस्तानी तहजीब से रूबरू कराने की जद्दोजहद दिखाई देती है? 90 के बाद ही हमारी फिल्मों के केन्द्रीय किरदार या उनके परिवार प्रवासी भारतीय होने लगे। डायस्पोरा केन्द्रित फिल्मों की चिंताएं भारतीय समाज के संदर्भ से नितांत कटी हुई है। भारत जैसे देशों के अधिकांश नागरिकों को जिन समस्याओं और चुनौतियों से जूझना पड़ रहा है, वे कम से कम इन फिल्मों में दिखाए जाने वाले वर्ग के लोगों की समकक्ष नहीं है।

शादी की वीडियो के तौर पर आलोचित 'हम आपके हैं कौन' कई मायनों में फिल्मी चलन को तय करने वाली फिल्म थी। इस फिल्म के बाद शादी के रीति–रिवाजों को फिल्म के एक अनिवार्य घटक के तौर पर केन्द्र में रखने वाली फिल्मों की संख्या में वृद्धि देखी गई। यहाँ तक कि प्रवासी भारतीयों द्वारा बनायी जाने वाली या उनके जीवन पर बनी बहुत–सी फिल्मों में भी विवाह का प्रसंग कथाओं के केन्द्र में हैं। 'मानसून वेडिंग' का पूरा कथानक विवाहोत्सव के इर्द–गिर्द रचा है। तो गुरिंदर चढ्ढा की फिल्म 'बेंड इट लाइक बैकहम' की पूरी कहानी नायिका की फुटबाल खेलने की तमन्ना और उसकी बहन की शादी के प्रसंग के समानांतर चलता है। एक दिलचस्प बात यह है कि विवाह के समारोह कई बार जहाँ नायक नायिका के परिचय सम्मेलन के स्पेस होते हैं तो शादी की गहमागहमी में कई सामाजिक वर्जनाओं का निषेध भी देखने को मिलता है जैसे 'हे बेबी' में नायक–नायिका एक विवाह समारोह में अंतरंग होते हैं तो मानसून वेडिंग में 'चाइल्ड अब्यूज' को दिखाया गया है। 'मिसीसिपी मसाला' में गुजराती शादी में अपने समुदाय के लोगों का एकत्रीकरण दिखाया जाता है, वहीं गुजराती मूल की नायिका को भी शादी के लिए लड़का दिखाया जाता है। परिवार केन्द्रित फिल्में जो एक दशक में लोकप्रिय हुई उनमें 'मैंने प्यार किया', 'हम आपके हैं कौन', 'कुछ– कुछ होता है', 'दिलवाले दुल्हनिया ले

जाएंगे', 'परदेस', 'कभी खुशी–कभी गम', 'हम साथ–साथ हैं', 'मैं प्रेम की दीवानी हूं', का नाम लिया जा सकता है। मूलतः ये प्रेम कथाएं हैं लेकिन परिवारों की मर्यादा के दायरे में बंधी हुई। इसमें नायक–नायिका की वर्गीय असमान स्थिति का कोई द्वंद नहीं है। पश्चिमी जीवन में एकाकी पारिवारिक जीवन के बीच संयुक्त परिवार की अवधरणा कौतुहल उत्पन्न करती हैं। असल जीवन में जब संयुक्त परिवार टूट रहे हो तो सिनेमाई पर्दे पर इन दो या तीन पीढ़ियों वाले परिवारों को देखना प्रवासी दर्शकों के लिए तो सुखद आश्चर्य है ही, शहरी दर्शकों के लिए एक यूटोपिया बन जाता है। एकल परिवार यानी पश्चिमी सामाजिक संस्कृति और संयुक्त परिवार यानी भारतीय सामाजिक संस्कृति इस युग्म को फिल्मों में पेश किया जाता रहा है।

प्रवासियों के एक खास वर्ग के लिए बॉलीवुड की प्रेम–कहानियां मनोरंजन से बढ़कर होती हैं–वे अप्रवासी उससे अपना खालीपन भरते हैं। ये फिल्में उनके सामाजिक, व्यावसायिक और पारिवारिक पहलुओं को संवारती हैं। घर से दूर व्यक्ति को धन कमाने और विपरीत संस्कृति में स्वयं को ढालने के लिए कापफी संघर्ष करना पड़ता है। ऐसे में बॉलीवुड सिनेमा प्रवासियों को परंपरागत सांस्कृतिक मूल्यों के साथ भारतीय जीवन शैली की झलकियां दिखाता है जिसमें व्रत, तीज–त्यौहार, विवाह संस्कार, इत्यादि प्रमुख हैं।*अप्रवासी जीवन के प्रति विशेष सम्मान बरतते हुए फिल्मकार इस बात का खास ध्यान रखते हैं कि परंपरागत कहानी और आधुनिक तकनीक यानि इंटरनेट, मोबाइल फोन दोनों साथ–साथ चलें। बॉलीवुड में लगता है कि पुराने विचारों को नई तकनीकों के पीछे छुपा दिया जाता है। बॉलीवुड में इंटरनेट शादियां तय करने के काम आता है। दुर्भाग्यपूर्ण तरीके से यह ख्याल अप्रवासियों को भाता है जिनका अत्याधुनिक तकनीक पर तो नियंत्राण है, पर वे घिसे–पिटे परंपरागत मूल्यों से चिपके रहना चाहते हैं। बॉलीवुड के फिल्मकार अपनी फिल्मों में बीच–बीच में अप्रवासियों की भावनाओं में उबाल लाने दृश्य डालते रहते हैं–राष्ट्रभक्ति के तत्व, पारम्परिक भजन, आरती आदि इन फिल्मों में समय–समय पर हम देख चुके हैं।[7]

डिजाइनर सिनेमा* के नाम से जाने जाने वाली इन फिल्मों में भव्य कल्पना तत्व की प्रधानता होती है। परदेस, आ अब लौट चलें में अप्रवासी भारतीय का जिस प्रकार का चरित्र चित्रण किया गया है। उसकी युवा अप्रवासी पीढ़ी आलोचना करती दिखती है– उन्हें लगता हैं कि अप्रवासियों के इस प्रकार के चित्रण से बॉलीवुड ने उन्हें छला है। इन दोनों फिल्मों में अच्छे बनाम बुरे का द्वंद दिखाने के लिए स्टीरियों टाइप अप्रवासी भारतीय चरित्र का चुनाव किया गया है। भारतीय सिनेमा में स्टीरियो टाइप पात्र असमान्य नहीं होते। दशकों से बॉलीवुड सिनेमा में सिक्ख, दक्षिण भारतीय, गोवाई, पारसी, बंगाली पात्रों का एकायामी चित्राण होता रहा है। इस तरह के भारतीय स्टीरियों टाइप की अप्रवासी युवा आलोचना नहीं करते।[8] परंपरागत भारतीय पीढ़ी और विदेशों में जन्मी पली–बढ़ी, उनकी दूसरी या तीसरी पीढ़ी के साथ उनकी नैतिकता बोध और भारतीय संस्कारों को लेकर अक्सर घर्षण की स्थिति रहती है और इसी घर्षण की उपज है 'एबीसीडी' अमेरिकन बोर्न कन्फ्यूज्ड देसी, 'अमेरिकन चाय', 'अमेरिकन देसी' जैसी फिल्में जिसमें आमतौर पर दूसरी पीढ़ी के भारतीयों के स्वयं को अमेरिकी समाज में सामंजस्य स्थापित न कर पाने की सांस्कृतिक विवशता और खीज को उजागर किया गया है। उनके अभिभावकों के पास समय का अभाव हैं, धन का नहीं। इसलिए हिन्दी का डायस्पोरा सिनेमा उनके लिए अपनी भावी संततियों को 'अतुल्य भारत' से रू–ब–रू कराने का एक जरिया हैं।

भारतीय डायस्पोरा का बहुत बड़ा हिस्सा सिख जनसंख्या है। इसीलिए 'सिंह इस किंग' का

नायक सिक्ख है, विदेश में बसे अपने गांव के युवक को वापस लाने और उसे सिख धर्म के मूल्यों–सिदांतों को पिफर से अपनाने के लिए प्रेरित करता हैं और इसी तरह रॉकेट सिंह का नायक सिख है, लव आजकल का नायक भी पगड़ीधरी सिख है। फिल्म सन ऑफ सरदार का नायक अजय देवगन भी सिख है। बॉलीवुड के नायकों को यह 'सिखीकरण' यूं ही नहीं हुआ है। यह भूमंडलीकरण की देन है और 'सिनेमा पंडितों' की शोध–आधरित सोची–समझी व्यापारिक नीति का परिणाम है।[9]

नयी अर्थव्यवस्था की भांति मल्टीप्लेक्स का आगमन नितांत शहरी कहानी है। मल्टीप्लेक्स को मात्रा मनोरंजन स्थल के रूप में नहीं देखना चाहिए बल्कि यह एक व्यावसायिक गतिविधि का भी केन्द्र है जहां ध्न जटिल आर्थिक मेलजोल की श्रृंखलाओं में बड़े पैमाने पर भागीदारी के आधर पर एक हाथ से दूसरे हाथ में स्थानांतरित होता रहता है जो संचित रूप से एक सामाजिक संरचना में संयोजित होकर एक 'उद्योग' के संदर्भ की निर्मिति करता है। इस प्रकार एक मल्टीप्लेक्स प्राथमिक तौर पर सामाजिक व्यवहार की जगह है, ऐसी जगह जहां लोग फिल्म देखने के मकसद से एकत्रिात होते हैं। ऐसे जनसमूह के सदस्य मल्टीप्लेक्स की भौतिक रूपरेखा से प्रोत्साहित होते हैं और सामाजिक नियमों के तहत अपनी सीमाओं में व्यवहार करने के लिए प्रेरित होते हैं। इन अर्थों मे मल्टीप्लेक्स निश्चित सामाजिक रिवाजों को निष्पादित करने के जगह है जो कि इतने ही महत्वपूर्ण हैं जितने की आख्यानमूलक उत्पाद, जिनका की इस प्रक्रिया में उपभोग किया जा रहा है। मल्टीप्लेक्स और इनके दर्शक वर्ग ने सिनेमा बनाने के 'परसेप्शन' और मार्केटिंग दोनों को प्रभावित किया और बदला। अंतर्वस्तु और तकनीक दोनों स्तरों पर एक नयी तरह का सिनेमा सामने आया, जो खास तौर से मल्टीप्लेक्स के दर्शक वर्ग के लिए था।

बॉलीवुड, हिन्दी सिनेमा, बंबईया सिनेमा, कला सिनेमा, व्यावसायिक सिनेमा और अब इसी के साथ मल्टीप्लेक्स सिनेमा कहने का चलन भी बड़ा है। ये मल्टीप्लेक्स सिनेमा उन खास तरह की प्रयोगधर्मी या गैर–प्रयोगधर्मी मगर उच्च–मध्यवर्ग की जीवन–शैली पर आधरित फिल्मों के लिए चस्पां किया गया लेबल है जो निचले तबके की आर्थिक पहुंच से बाहर–होने के साथ उनकी बौद्धिक क्षमता और अनुभव जगत से भी बाहर है। इसकी तथाकथित गंभीर सिनेमा की आलोचना करते हुए जिया–उस–सलाम कहते हैं कि *आज का जो गंभीर सिनेमा है, वह महानगरीय सिनेमा है, मल्टीप्लेक्स सिनेमा है। दिवाकर बैनर्जी, अनुराग कश्यप, नीरज पांडेय, और कुछ हद तक नागेश कुकनूर इस तरह के निर्देशक हैं जो गंभीर सिनेमा के नाम से मल्टीप्लेक्स के दर्शकों के लिए फिल्में बनाते हैं। नीरज पांडेय की 'अ वेडनसडे' और दिवाकर बैनर्जी की 'खोसला का घोंसला' ऐसी ही फिल्में हैं । ऐसा इसलिए हो रहा है,क्योंकि शहरी हिन्दुस्तान में अब एक ऐसा दर्शक–वर्ग मौजूद है, जिसे भूमंडलीकरण के फायदे मिले। उसकी खर्च करने की क्षमता इतनी बढ़ गयी है कि एक फिल्म देखने पर प्रति व्यक्ति छह सौ रूपये खर्च करने से भी उसकी जेब पर विशेष पफर्क नहीं पड़ता हैं।*[10]

भारतीय मनोरंजन उद्योग के हाल ही में हुए विस्तार ने इस बात को सिद्ध किया है हिन्दी सिनेमा में फिल्में अब केवल हिन्दुस्तानी दर्शकों के लिए ही नहीं बनती बल्कि पूरे भारत के मनोरंजन उद्योग के मालिक अब केवल अपने देशी लोगों या दक्षिण एशियाई लोगों के लिए फिल्में, गाने,टी. वी. कार्यक्रम नहीं बनाते, बल्कि दुनियाभर के देशों में निर्यात के लिए बनाते हैं। बढ़ते हुए भारतीय मध्यवर्ग और पूंजी निवेश का स्वागत करने वाले वातावरण से आकर्षित होकर झुंड की झुंड कंपनियां बॉलीवुड जा रहीं हैं और वहां के फिल्मकारों तथा संगीतकारों को पूंजी उपलब्ध करा रही हैं। विदेशी पैसा भारतीय पॉप संस्कृति

को अब और भी बड़े श्रोता वर्ग तक पहुंचा रहा है और इसका एक अच्छा साइड इफेक्ट यह हो रहा है कि भारतीय फिल्म उद्योग फिल्मों में लगाने के लिए अपराध–जगत से पैसा लेने की मजबूरी में मुब्तिला था,उससे मुक्त हो रहा है।11 लेकिन विदेशी निवेशक जो पैसा लगा रहे हैं वह भी कितना पाक सापफ है। इस पर भी सवाल उठाए जाने चाहिए।

हिन्दी फिल्मों के संदर्भ में भाषा और परिवेश का प्रश्न गौण होता जा रहा है। इसलिए हिन्दी सिनेमा की भाषा और परिवेश कितना हिन्दी पट्टी से संबद्ध है यह प्रश्न भी विचारणीय है। दूसरा हिन्दी सिनेमा में शहर जिस तरह से दिखाए जा रहे हैं वो पात्रों की भाषा को संकर बनाने की ओर बढ़ रहे हैं। 'दो बीघा जमीन' हो या 'पार' के जैसी फिल्मों के जमाने में नायक आजीविका के लिए यह गांव के सामंतवादी परिवेश के अत्याचारों से बचने के लिए शहर की ओर जाते थे, तो 'बॉम्बे' फिल्म का प्रेमीयुगल अंतधर्मिक विवाह करने के लिए शहर जाता है जहाँ उनकी धर्मिक पहचान शहरी संस्कृति में घुल मिल जाती है। परवर्ती फिल्मों के नायक या नायिका रोजगार के लिए मुंबई शहर की ओर रूख करने लगे। हिन्दी फिल्मों में प्रादेशिकता के सवाल को टटोले तो क्रांति इत्यादि के बौद्धिक विमर्श के लिए बंगाल का चित्रण ;हजार चौरासी की माँ, हजारों ख्वाहिंशें ऐसी में किया जाता है, अपराधिक, सामाजिक–राजनीतिक समस्याओं के लिए बिहार और उत्तरप्रदेश ;शूल, गंगाजल, अपहरण में चित्रित किया जाता है। खुशहाली, समृद्धि के लिए पंजाब ;यश चोपड़ा की फिल्मों में दर्शाया जाता है। स्त्री शोषण, दुर्दशा के लिए राजस्थान, मध्यप्रदेश, बैंडिट क्वीन, बवंडर, रूदाली, मिर्च मसाला की ओर ताका जाता है। मणिरत्नम की दक्षिण भारतीय परिवेश में बनी फिल्में जब हिन्दी में प्रदर्शित होती हैं तो उनकी देहभाषा भाव भंगिमा उत्तर भारतीय हिन्दीभाषियों की तरह नहीं दिखाई देती। इससे आगे 2000 के बाद जिस तरह की फिल्में बन रही हैं उन्हें वैश्विक शहरी संस्कृति के नाम पर अंग्रेजीदां माहौल की फिल्में सामने आ रही हैं जिनमें हाइप्रोफाइल नायक बहुराष्ट्रीय कंपनी में काम करता है और अपनी 'कान्वेंट एजुकेशन' से कंपनी के लिए मुनाफा कमाना उसका परम लक्ष्य होता है। कुल मिलाकर 90 के बाद हिन्दी सिनेमा में बदलाव के लिए तीन बड़े घटक सबसे ज्यादा जिम्मेदार रहे हैं–शहरी मध्यवर्ग का उदय, प्रवासी भारतीय दर्शक वर्ग का उदय तथा मल्टीप्लेक्स का आगमन। सामाजिक पृष्ठभूमि के नियामक के तौर पर आर्थिक उदारीकरण एवं राजनीतिक अर्थव्यवस्था के साथ–साथ नौकरीपेशा तबके की बढ़ती तादाद भी बराबर रूप जिम्मेदार रही है। निस्संदेह उपरोक्त घटकों ने हिन्दी सिनेमा के कलेवर और तेवर दोनों को बदला है।

[1] Laxmi Narayan Kadekar, Ajay Kumar Sahoo, Gauri Bhattacharaya ed. *The Indian Diaspora: Historical and Contemporary Content* ,(Delhi, Rawat Publication), p-1

[2] *The Encyclopedia of the Indian Diaspora*, Brij V. Lal General Editor, Oxford University Press, YMCA Building , 2006, p-101

[3]जमाल, अनवर एंव चटर्जी, सैबल ; 2006, *हॉलीवुड बॉलीवुड : रास्तों से अलग,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ0 138

[4]उपर्युक्त, पृ0 7

[5] Vijay Mishra, "Re-mapping Bollywood Cinema: A Postcolonial Study", *The Sage Handbook of Film Studies* ed. James Donald and Michael Renow (Sage Publication), p-471

[6] उपर्युक्त, पृ0 472

**हॉलीवुड बॉलीवुड : रास्तों से अलग* पुस्तक में माइग्रेंटस के लिए अप्रवासी शब्द का इस्तेमाल किया है।

[7] 'अप्रवासी भारतीय की पसंद', सचिन गांधी, *हॉलीवुड बॉलीवुड : रास्तों से अलग,* जमाल, अनवर एंव चटर्जी, सैबल ;उपर्युक्त, पृ0 46

*Encyclopedia of Hindi Cinema

[8] 'अप्रवासी भारतीय की पसंद', उपर्युक्त, पृ0 48

[9] 'भूमंडलीकरण ने समाज और सिनेमा दोनों का बदल दिया है', उपर्युक्त. 57–58

[10] 'हिन्दी फिल्में अमरीकी संस्कृति का उत्सव मना रही हैं', जिया–उस–सलाम, *कथन,* ;जनवरी–फरवरी मार्च 2012, पृ0 74

[11] 'ग्लोबल बॉलीवुडः अनना मारकॉम' की समीक्षा, उत्पल कुमार, *कथन,* ;जनवरी–फरवरी मार्च 2012, पृ0 120